© UNIVERSAL RESEARCH REPORTS | REFEREED | PEER REVIEWED
ISSN : 2348 - 5612 | Volume : 04 , Issue : 08 | October - December 2017

श्रीमद्भगवद गीता में जीवन मूल्य और पुरुषार्थ – चतुष्टय

[1]डॉ. वीरेन्द्र कुमार, [2]सुदेश देवी
एसोसिएट प्रोफेसर, एम.ए. योगा, रोल नं. 1738, चौ. रणवीर सिंह वि.वि. जींद

ISSN : 2348-5612 © URR

प्रस्तावना

किसी भी इंसान के जीवन में मूल्यों का बड़ा योगदान होता है, क्योंकि इन्हीं के आधार पर अच्छा–बुरा या सही–गलत की पहचान की जाती है। शाब्दिक अर्थ में देखा जाए तो मूल्य का अर्थ कीमत होता है। परन्तु मानवता के विकास में इन जीवन मूल्यों का अमूल्य योगदान होता है, क्योंकि जिस समाज के लोगों में जीवन मूल्य उच्च होंगे वही पूरी मानवता के लिए आदर्श स्थापित कर सकेगा। हिंदुओं के धार्मिक ग्रंथ श्रीमद्भगवदगीता की पृष्ठभूमि महाभारत का युद्ध है। भारत के इतिहास का एक ऐसा युद्ध जो दो परिवारों के बीच घटित हुआ था, जिसका उद्देश्य था धर्म का पालन करना तथा सत्य को जीत हासिल कराना। आज भी मनुष्य जब विषम परिस्थितियों में उलझा होता है तो गीता का ज्ञान उसको सही रास्ता दिखाता है। गीता में जो जीवन मूल्य वर्णित हैं वे आज भी अपनी प्रासंगिकता बनाए हुए हैं। तभी तो गीता का प्रचार–प्रसार संपूर्ण जगत में हो पाया है। भारत ही नहीं विश्व के अन्य देशों में भी गीता पर कार्य हो रहा है। गीता एक ऐसा ग्रंथ है जो देशकाल, समयकाल की परिधि में न बंधकर संपूर्ण मानवता को स्फूर्तिदायक संदेश देता है।

विषयवस्तु

जीवन मूल्य का अर्थ

1. मूल्य का अर्थ मानव जीवन के मूल या आधारभूत सार तत्व को समाहित करना है तथा मानव मात्र के लिए आवश्यक रूप से अनुकरणीय उन आदर्शमूलक दिशाबोधक एवं आधारभूत अवधारणाओं का संकेत करते हैं, जिसको व्यवहार एवं सामाजिक जीवन में अपितु संपूर्ण विश्व में सहज रूप में सामंजस्य एवं समग्र विकास का निर्माण होना सुनिश्चित है। मूल्य सदा परिवर्तनशील है। समय और आवश्यकता के अनुसार उनमें परिवर्तन आता रहता है। मूल्य बदलने से जीवन पद्धति बदल जाती है और जीवन पद्धति के बदलने से मूल्य बदल जाते हैं।
2. स्वामी विवेकानन्द – ''हमें स्वयं को व्यक्ति के रूप में जीवन मूल्यों को समझना और जीना चाहिए और आगे उनका पहला प्रयोग अपने परिवार में करना चाहिए, समाज मूल्योन्मुखी स्वतः ही होने लगता है।''[1]
3. रामायण – ''रामायण में हमें एक आदर्श राज्य व्यवस्था का बोध होता है अर्थात् समाज शास्त्रीय आदर्शों की संहिता है।''[2]
4. गीता – इसी प्रकार गीता भारतीय परम्परा में प्रस्थानत्रयी का अंग है। यह ''कर्म और पुरुषार्थ'' के साथ विवेक सम्मत् निर्णयात्मिका बुद्धि की पक्षधर है।[3]
5. श्रीमद्भगवदगीता – अन्याय, अत्याचार, अधर्म और असत्य के विरुद्ध संघर्ष की प्रेरणा देती है तथा यह मानव जीवन के सतत् चलने वाली जीवन्त दिशा बोधक संजीवनी है।[4]
6. श्रीमद्भगवदगीता – आज दुनिया को समन्वय की सर्वाधिक आवश्यकता है। ऐसे में भगवत्गीता प्रासंगिक हो जाती है। स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, जनतंत्र, समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता, सांस्कृतिक परंपराओं के प्रति सम्मान, सामाजिक विभेद की समाप्ति, लैंगिक समानता, अंतर्राष्ट्रीय सहयोग एवं पर्यावरण संरक्षण चेतना आदि महत्त्वपूर्ण मूल्य हैं। वर्तमान प्रबंधन शिक्षा के पाठ्यक्रम में इन मूल्यों की बहुत आवश्यकता है। हमारा समाज बहु–आयामी है, इसलिए प्रबंधन शिक्षा के द्वारा शाश्वत मूल्यों का विकास किया जाना चाहिए।[5]
7. जिसमें आदर्श और पुरुषार्थ हैं, जिसमें मानव जीवन का संपूर्ण विकास हो वही जीवन मूल्य कहा गया है।[6]

गीता में इन जीवन मूल्यों का भलीभाँति निर्वाह करते हुए दिखाया गया है कि किस तरह श्रीकृष्ण अर्जुन को अपने व्यक्तिगत मोह को छोड़कर युद्ध के लिए प्रेरित करते हैं –

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्वयपद्यते। 2/3
क्षुद्र हृदय दौबल्यं त्यक्तवोतिष्ठ परन्तप।।[7]

श्रीकृष्ण जी अर्जुन से कहते हैं कि उच्च अवस्था प्राप्त करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ और सुख तथा दुःख के प्रहारों को समभाव से सह सकता है। वह निश्चय ही मुक्ति के योग्य है। इस श्लोक में श्रीकृष्ण यही कह रहे हैं –

यं हि न त्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीर सोऽमृतत्वाय कल्पते।।

शास्त्रों के अनुसार ऐसा गुरु जो निद्यं कर्म में रत हो और जो विवेकशून्य हो, त्याज्य है। दुर्योधन से आर्थिक सहायता लेने के कारण भीष्म तथा द्रोण उसका पक्ष लेने के लिए बाध्य थे, तथापि केवल आर्थिक लाभ से ऐसा करना उनके लिए उचित न था। ऐसी दशा में वे आचार्यों का सम्मान खो बैठे थे। किंतु अर्जुन सोचता है कि इतने पर भी वे उसके गुरुजन हैं, अतः उनका वध करके भौतिक लाभों का अर्थ होगा – रक्त से सने अवशेषों का भोग।

गुरुनहत्वा हि महानुभावन श्रेयो भोक्तु भेक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थ कामांस्तु निरुनिहैव भुंजीय
भागानुधिरप्रदिग्धान्।।[8]

श्रीमद्भगवद गीता में भौतिक सुखों को तुच्छ बताया है क्योंकि भौतिक सुखों की लालसा मनुष्य में कई दुर्गुणों को भी जन्म देती है। श्रीकृष्ण जी कहते हैं कि बुद्धिमान मनुष्यों की दो श्रेणियाँ हैं। एक ऐसी श्रेणी के मनुष्य जो इंद्रिय तृप्ति के लिए भौतिक कार्य करने में निपुण होते हैं और दूसरी श्रेणी के मनुष्य आत्मनिरीक्षक हैं, जो आत्मसाक्षात्कार के अनुशीलन के लिए जागते हैं। विचारवान पुरुषों या आत्मनिरीक्षक मुनि के कार्य भौतिकता में लीन पुरुषों के लिए रात्रि के समान हैं।

भौतिकवादी व्यक्त ऐसी रात्रि में अनभिज्ञता के कारण आत्म–साक्षात्कार के प्रति सोये रहते हैं आत्मनिरीक्षक मुनि भौतिकवादी पुरुषों की रात्रि में जाते रहते हैं। भौतिक कार्यों में लगा व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार के प्रति सोया रहकर अनेक प्रकार के इंद्रिय सुखों का स्वप्न देखता रहता है और उसी सुप्तावस्था में कभी सुख तो कभी दुःख का अनुभव करता है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण

भारतीय संस्कृति का मूल सिद्धांत है मानवतावाद। संसार एक विशाल प्रवाह है, विश्व के संपूर्ण घटक इस अनन्त प्रवाह में बह रहे हैं। मनुष्य की विशेषता इसी में है कि वह इस प्रवाह में जीवन को उचित दिशा मं ले जाने का प्रयत्न करे। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति सनातन मानव जीवन के लिए वरदान सिद्ध हुई है। जीवन मूल्य का व्यापक स्वरूप वेदों से लेकर संस्कृत साहित्य में समाहित है। तत्पश्चात् हिंदी साहित्य में भी जीवन के विविध आयाम उद्घाटित हुए हैं। इसलिए कहा गया है कि साहित्य और जीवन दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। भारतीय संस्कृति में जीवन–मूल्यों पर विशेष बल दिया गया है। प्रत्येक विचारक, तत्ववेत्ता मनीषियों ने अपने तर्कों के द्वारा मूल्यों का निर्धारण किया है, परंतु यही निर्विवाद सत्य है कि मानवीय मूल्य जीवन की सार्थकता के लिए अनिवार्य है। परमार्थ ही आर्य जीवन का लक्ष्य बना। उपनिषदों को ही मानो सोमयोग कहा गया है तथा मनुष्य जीवन को यज्ञमय बताया गया है।[9] इस प्रकार जीवन मूल्य की व्यापक विवेचन के आधार हमारे साथ या समझ भिन्न–भिन्न दृष्टि से उपस्थित होते हैं। मानव जीवन के वास्तविक स्वरूप, महत्व और अंतिम लक्ष्य के संबंध में इतिहास में मूलतः दो परस्पर विरोधी विचारधाराएँ देखने को मिलती हैं।

1. प्रथम – विश्व क्षणभंगुर तथा नश्वर है। इसी कारण इसे अत्सय माना है। ''ब्रह्म सत्यं'' जगत मिथ्या के अनुसार असत्य के पीछे दौड़ना व्यर्थ है। अतः इस भौतिक युग में काल्पनिक सत्य को छोड़कर परम सत्य की खोज में ही अपना संपूर्ण जीवन समर्पित करते हुए ईश्वर को प्राप्त करना ही हमारा ध्येय रहा है। इसीलिए हमारे ऋषिमुनि चिरवंदनीय है। उनके द्वारा प्रणीत इतिहास, पुराण, उपनिषद का अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि पूर्व काल में सभी प्रकार से उन्नति के शीर्षस्थ स्थान पर था। ज्ञान–विज्ञान, बल–बुद्धि, धन–धान्य, सुख–सम्पत्ति, ऐश्वर्य–वैभव, प्रेम–परोपकार, शील–सदाचार, व्यापार, वाणिज्य, कारीगरी और कला आदि प्रत्येक क्षेत्र में हमने अत्यधिक विकास करके आशातीत सफलता प्राप्त की थी।

इसका मूल कारण यहाँ के लोग आत्मवादी ज्ञान–परायण थे। उनकी वेद शास्त्रों और वर्णाश्रम धर्म में अटूट श्रद्धा थी। ''रामचरितमानस' में वर्णाश्रम व्यवस्था पर गोस्वामी तुलसीदास के विचार –

''वर्णाश्रम निज–निज धरम, निरत लेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नाहिं भय भोगन शोका।

2. द्वितीय – इसके ठीक विपरीत दूसरी विचारधारा के अनुसार जीवन की सफलता भोगवाद में निहित है। उनका मानना है कि वास्तविक सत्य तो वर्तमान जीवन है अधिकाधिक सुख–लाभ–भोग उस जीवन की सफलता है परन्तु भारतीय चिन्तन धारा इन दोनों विरोधी विचार पद्धतियों का समन्वय करता है।

जीवन मूल्य संबंधी भारतीय विचार

भारतीय जीवन दर्शन की यही विशेषता है कि वह इहलौकिक एवं पारलौकिक दोनों पक्षों की महत्ता स्वीकारता है। यहाँ जीवन की सार्थकता के लिए ''पुरुषार्थ चतुष्ट्यों का वर्णन किया जाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को पुरुषार्थ चतुष्टय के नाम से पुकारा जाता है।

धर्म

धर्म भारतीय संस्कृति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है। यह व्यक्ति की क्रियाओं तथा व्यवहार को नियंत्रित करने में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। व्याकरण की दृष्टि से 'धर्म' शब्द 'धृत' 'धारण धृ के आगे 'मने' प्रत्यय लगने से बनता है।

प्रथम–'धृयते' लोक मनेन इति धर्मः अर्थात् जिससे लोक धारण किया जाए, वह धर्म है। ''धियते यः स धर्म'' इस प्रकार धर्म की मूल धारणा है, जो धारण करे वह धर्म है। अब यह प्रश्न उभरते हैं। कौन धारण करे? क्या धारण करे? किसको धारण करे? महाभारत से उद्धृत निम्न श्लोक में उक्त कथन की पुष्टि होती है –

''धारणा धर्मं मित्याहु धर्मो धारयते प्रज्ञाः दतस्याहारण
संयुक्त स धर्म इति निश्चय।''[10]

अर्थात् धारण करने से लोग इसे धर्म कहते हैं। धर्म प्रज्य को धारण करता है। जो धारण के साथ रहे वही धर्म है– यह निश्चित है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि धर्म वह है जो सत् कार्यों की ओर प्रेरित करता है, जिससे मानवता का विकास होता है। साथ ही विश्वबंधुत्व की भावना की ओर अग्रसर करता है। यह भी कह सकते हैं कि जो मानव जीवन की इस लोक में और परलोक में उन्नति एवं कल्याण करे जिससे मुनष्य मृत्यु पर्यन्त अभरय एवं आत्म शांति का अनुभव करे जिससे सच्चा संतोष, सुयश प्राप्त हो समाज और राष्ट्र में शांति एवं समानता स्थापित करने में सहायक हो, वही धर्म है।

अर्थ

अर्थ का सामान्य तात्पर्य भौतिक सुखों एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन से है। अर्थशास्त्र में इसका संबंध मुद्रा से जोड़कर उसमें उपयोगिता, न्यूनता तथा विनिमय क्षमता की प्रमुखता मानी है। ''धर्म'' के बाद ''अर्थ'' की महत्ता इसलिए स्वीकार की जाती है क्योंकि धर्म के पालनार्थ अर्थ की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ इस बात का स्पष्टीकरण आवश्यक है कि जीवन मूल्य के संदर्भ में अर्थ से मतलब धन, संपत्ति नहीं है वरन् विशिष्ट प्रयोजन के लिए इसका आंकलन किया गया है। वेदों में याज्ञिक तथा समृद्ध जीवन की एक अभिलाषा व्यक्त की गई है। ऋग्वेद एवं उपनिषदों की प्रार्थनाओं में धन–धान्य की वृद्धि, सांसारिक समृद्धि, शतायु होने की अभिलाषा गायों तथा बछड़ों की वृद्धि, संतान की समृद्धि तथा जीवन की याचना की प्रार्थनायें मिलती हैं।[11]

शास्त्रों की भांति 'पंचतंत्र' एवं 'हितोपदेश' आदि लोक साहित्य में भी अर्थ की महत्ता प्रतिपादित की गई है। धन से भोज, विश्वास तथा सत्ता प्राप्त होती है। निम्नवंशी धनवान को आदर मिलता है। जबकि उच्च वंशीय निर्धन को लोग निरादर की दृष्टि से देखते हैं, निर्धनता अभिशाप है और मृत्यु से भी बुरी है। संत तुलसीदास ने भी इस कथन की पुष्टि की है देखिए –

''नहिं दरिद्र सम दुख जगमाही।''[12]

चाणक्य ने अपने नीति ग्रंथ में भी धन को आपत्ति काल में संरक्षक माना है, जैसे –

''आपदथे धनं रक्षयेत।''[13]

उपर्युक्त व्याख्यानों के आधार पर कहा जा सकता है कि जीवन मूल्यों में 'अर्थ' का अपना महत्त्व है। महाभारत में कहा गया है कि अर्थ ही धर्म और काम का आधार है। बिना धन के न मानव सांसारिक सुखों का उपभोग कर सकता है और न धर्म के कार्य–अतिथिसत्कार, समाजसेवा और परोपकार आदि कर सकता है। जीवन में अर्थ उपार्जन की निंदा भी की गई है क्योंकि जो व्यक्ति अर्थ संग्रह करता है और उसी को जीवन की सार्थकता समझ लेता है, वह बाह्य रूप को ही महत्व देता है। लेकिन इसमें बाह्य और आंतरिक मूल्यों का एकनिष्ठ भाव में निर्वाह किया जाना चाहिए।

काम

भारतीय चिंतन पद्धति में जीवन–मूल्यों की चर्चा करते हुए काम को तीसरे स्थान पर रखा गया है। 'काम' एक ऐसा जीवन–मूल्य है, जिसके संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ तो इसको प्राणी जगत की अपरिहार्य आवश्यकता स्वीकार करते हुए अन्य मूल्यों की भांति इसे भी अनिवार्य मूल्य घोषित करते हैं, जबकि कुछ विद्वान इसके प्रति विरोध प्रकट करते हुए निदृष्ट मूल्य मानते हैं।

सामान्य रूप से काम शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। एक तो संकुचित अर्थ जिसके अनुसार 'काम' केवल इंद्रिय सुख, यौन प्रवृत्तियों की संतुष्टि मात्र है।

दूसरा अर्थ मनुष्य की समस्त प्रवृत्तियों, इच्छाओं तथा कामनाओं का समावेश है। तुलसीदास जी के अनुसार –

कमिहि नारि पियारि जिये,
लोभहि प्रिय जिये दाय,
तिये रघुनाथ निरंतर,
प्रिय लागहिं मांहि राय।।[14]

जैसे लोभी व्यक्ति को धन प्रिय होता है, उसी प्रकार कामी व्यक्ति को स्त्री प्रिय होती है।

श्रीमद्भगवदगीता में भगवान श्रीकृष्ण ने 'काम' को जीवन का महान शत्रु कहा है –

''जहि शत्रुं महाबाहो काम रूपं दुरासदम।''[15] 3/43

वैदिक मान्यताओं के अनुसार 'काम' भाव से ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई है।

महर्षि वेदव्यास ने काम की उत्पत्ति के संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए इसे एक अद्भुत वृक्ष स्वीकार किया है। जो मनुष्य के हृदय में उठता है, मोह उसका बीज है, क्रोध और अभिमान उसके दो स्कंध है, कोई कार्य करने की इच्छा उसे सींचने वाले जल का पात्र है, अज्ञानता उसकी जड़ है। प्रभाव जड़ के सिंचने वाला जल है, दूसरों के दोष देखना उस वृक्ष के पत्ते हैं और पूर्व जन्म के पाप उसके सार भाग हैं। शाक उसकी शाखाएँ हैं, मोह और चिंता उसकी छोटी–छोटी डालियाँ हैं एवं भय उसके अंकुर हैं। उस वृक्ष पर मोह को वश में करने वाली तृष्णा रूपी लतिकायें लिपटी हुई हैं। वृक्ष के नीचे लोभी मनुष्य लोहे की जंजीरों की तरह विषय वासना में गुंथकर बैठे हुए तथा उसके फल पाने की आशा करते हैं। गीता में कहा है –

''धर्मविरुद्धो कामोऽस्मि भरतवर्षम्।''[17]

अर्थात् मैं वही काम हूँ जो धर्म के विरुद्ध नहीं है। कहकर 'गीता' में काम के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार किसी भी रूप में जीवन–मूल्य के अंतर्गत हम 'काम' के महत्व को अस्वीकार नहीं कर सकते।

मोक्ष

यह जीवन का सर्वोच्च एवं अंतिम पुरुषार्थ है। धर्म, अर्थ, काम को मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः मोक्ष एक ऐसा जीवन–मूल्य है, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् शेष कुछ भी पाना वांछित नहीं रह जाता। मोक्ष शब्द का आशय है – अर्पण, विमोचन, मृत्यु छुड़ाना, बिखेरना, जन्म–मरण के चक्र से छुटकारा पाना। हिंदू विचारधारा के अनुसार संपूर्ण सृष्टि ब्रह्ममय है और यह जीव उसी ईश्वर का अंश है।

ईश्वर अंश जीवन अविनायी
चेतन अमल सहज सुखरासी।।[18]

शरीर नश्वर है परन्तु आत्मा अमर है। अपने कर्मों द्वारा जीव बंधनों को तोड़कर ईश्वर में लीन हो सकता है।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए स्पष्ट कहा है कि ''संपूर्ण धर्मों को (कर्त्तव्य कर्मों) (मुझमें) त्यागकर (तू केवल) एक मुझ सर्वशक्तिमान सर्वाधार परमेश्वर की शरण में आ जा। मैं तुझे संपूर्ण पापों से मुक्त

कर दूँगा। तू शोक मत कर।'[19] यहाँ धर्मानुसार जीवन व्यतीत करने पर विशेष बल दिया है। महाभारत के शांति पर्व में कहा गया है –

''हृदय स्थित परमात्मा को जो पुरुष जान लेना है और धीरे–धीरे अपनी बुद्धि से उसकी परीक्षा करता है, वह योग के द्वारा सत्य वस्तु को जानकर परम सुख पाता है। जो मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को जानकर त्याग देता है और मन ही मन आत्म तत्व की खोज करता है, फिर उसे किसी अन्य वस्तु के जानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसा ही पुरुष तत्वदर्शी कहलाता है।

उपनिषदों में भी 'ब्रह्म' शब्द को जानने से ब्रह्म होने की बात कही गई है।''

मोक्ष संबंधी इन समस्त धारणाओं के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दुःखों के विवरण से वास्तविक आनंद की प्राप्ति होने परही मुक्ति संभव है। अतः यह स्पष्ट है कि मोक्ष की धारणा रहस्यात्मक एवं आध्यात्मक है। मानव जीवन का उद्देश्य मानव बने रहना ही नहीं, क्योंकि यह तो क्षणभंगुर कहा गया है। जैसे –

पानी केरा बुदबुदा,
अस मानुष की जात।
देखत ही छिप जायेगा,
ज्यों तारा परभात।।

इसलिए कहा जाता है कि मोक्ष ही परिपूर्ण सुख प्रदान करता है। इन सभी को ध्यान में रखते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्तव्य करने के लिए प्रेरित करते हुए कहते हैं –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। या
कर्मफलहेतुर्भूः मा ते सङ्गोस्त्वकर्माणि।।[20]

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में अर्जुन अपने स्वजनों को देखकर युद्ध से विमुख होने लगा तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि व्यक्ति को कर्मफल की इच्छा न रखते हुए निष्काम भाव से कर्तव्य पालन करना चाहिए।

निष्कर्ष

इस प्रकार उपर्युक्त तत्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि गीता में जिन जीवन मूल्यों को मनुष्य के लिए आवश्यक बताया है, उन मूल्यों को अपनाकर हम एक स्वस्थ समाज का निर्माण कर सकते हैं। जब मनुष्य अपने–पराये के भेद से मुक्त होकर स्मस्त मानव जाति के कल्याण के लिए कार्य करेगा वही सच्चे अर्थों में मानव कल्याण के लिए कार्य कर सकता है। इसमें जीवन मूल्यों के स्वरूप, विकास युगीन परिस्थितियों एवं चिंतकों के प्रभाव को भी दर्शाया गया है। इसमें मानवता के विकास एवं जीवनोत्कर्ष को भी स्थापित किया गया है।

सन्दर्भ सूची

1. स्वामी विवेकानन्द
2. रामायण
3. गीता (श्रीमद्भगवदगीता)
4. श्रीमद्भगवदगीता
5. श्रीमद्भगवदगीता
6. श्रीमद्भगवदगीता
7. श्रीमद्भगवदगीता 2/3 श्लोक
8. उपरिवत्, अध्याय 2 श्लोक 5वां (2/5)
9. एकदशेपनिषद तृतीय प्र. पाठकखण्ड 16, 17
10. महर्षि वेदव्यास–महाभारत–कर्णपर्व, पृ. 58–69
11. यजुर्वेद, अध्याय–18, द्वितीय प्रश्न मंच 8–13
12. गोस्वामी तुलसीदास–रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दोहा, क्रमांक 1
13. चाणक्य–चाणक्य नीति, पृ. 13

14. गोस्वामी तुलसीदास–रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दोहा, पृष्ठ 324
15. महर्षि वेदव्यास, श्रीमद्भगवत गीता, अध्याय 3/43
16. वेदव्यास महाभारत, शांतिपर्व, उत्तरार्द्ध, पृ. 430
17. श्रीमद्भगवत–गीता–अध्याय–7, श्लोक–11
18. गोस्वामी तुलसीदास, रामचरितमानस, बालकांड।
19. श्रीमद्भगवदगीता, अध्याय 1, श्लोक क्रमांक 66
20. श्रीमद्भगवदगीता